शक्तिपात
(शैवाचार्यों के अनुसार)

कौन प्राणी किस समय किस प्रकार से साधना के मार्ग में प्रवृत्त होवे, तथा इस मार्ग पर किस प्रकार की और कितनी तीव्र गति से चले, कौन साधक किस समय, किस प्रकार से, जीवन के इस चरम लक्ष्य पर पहुंच जाए, यह सब कुछ स्वयं परमशिव के ही बस की बातें हैं। परमशिव जिसे जैसी अन्तःप्रेरणा करे, वह वैसे ही चलता है। उसकी इस अन्तःप्रेरणा को शक्तिपात कहते हैं-

(क) स्वातन्त्र्यसारश्चासौ परमशिवः शक्तेः पातयिता, इति निरपेक्ष एव शक्तिपातो यः स्वरूपप्रथाफलः। (तं.सा.पृ.११८)

(ख) तस्यैव हि प्रसादेन भक्तिरुत्पद्यते नृणाम् । (मा.वि.वा.१-६६८)

(ग) शक्तिपातात् सद्गुरुविषया पिपासा भवति । असद्गुरुविषयायां तु तिरोभाव एव । असद्गुरुतस्तु सद्गुरुगमनं शक्तिपातादेव। (तं.सा.पृ.१२२)

आदि शंकर वैदिक विद्या संस्थान

दूरभाष:9044016661

मुख्यतया शक्तिपात के तीन प्रकार होते हैं-तीव्र, मध्य और मन्द। फिर तीव्र के तीव्र-तीव्र, मध्य-तीव्र और मन्द्र-तीव्र, ये तीन प्रकार बनते हैं। इसी तरह से मध्य और मन्द के भी तीन-तीन प्रकार बनते हैं। इन नौ में से प्रत्येक की गति त्वरित, मध्यम और मन्द होती है। उस गतिभेद के कारण शक्तिपात के सत्ताईस प्रकार बन जाते हैं। उनमें भी अनन्त-अनन्त प्रकार का वैचित्र्य होता है। तभी तो यह संसार की लीला अतिविचित्र बनी हुई है। शक्तिपात के इन अनन्त वैचित्र्यों के विषय में परमशिव सर्वथा स्वतन्त्र हैं। वे किसी भी कारण के या नियम के अधीन नहीं। तभी तो परमेश्वर हैं। यदि उन्हें नियम के अधीन रहना पड़ता, तो परमेश्वर काहे के होते-

इत्थं पुराणशास्त्रादौ शक्तिः सा पारमेश्वरी।

निरपेक्षैव कथिता सापेक्षत्वे ह्यनीशता।। (मा.वि.वा.१-६६८)

उनकी पराद्वैत दृष्टि में कोई भी प्राणी उनसे भिन्न नहीं। सब कोई वे स्वयं ही तो हैं। स्व और पर, ऐसा विभाग उनकी दृष्टि में नहीं। अतः उनके इस स्वतन्त्र शक्तिपात में वैषम्य, नैघृर्णय, पक्षपात आदि के दोष नहीं आते। ऐसा आ. अभिनवगुप्त का सिद्धान्त है-

न च वाच्यं कस्मात् कस्मिंश्चिदेव पुंसि शक्तिपात इति । स एव परमेश्वरस्तथा भातीति सतत्त्वे कोऽसौ पुमान् नाम यदुद्देशेन विषयकृता चोदनेयम् ।। (तं.सा.पृ.११६)

अन्य शास्त्रों में शक्तिपात के कई एक कारण माने गए हैं। परन्तु वे उनका खण्डन करते हुए परमशिव के पूर्ण स्वातन्त्र्य को ही ठहराते हैं-

अनिमित्तस्तथा चायं शक्तिपातो महेशितुः ।।

तेन रागक्षयात् कर्मसाम्यात् सुकृतगौरवात्।

मलपाकात् सुहृद्योगाद् भक्तेर्भावाच्च सेवनात् ।।

अभ्यासाद्वासनोभेदात् संस्कारपरिपाकतः।

मिथ्याज्ञानक्षयात् कर्मसन्न्यासात् काम्यविच्युतेः।।

साम्याच्चित्तस्य सा शक्तिः पततीति यदुच्यते।

तदसन्ननु तत्रापि निमित्तान्तरमार्गणात्।।

अनवस्थातिप्रसङ्गसम्भवाभावयोगतः।

अन्योन्याश्रयनिःश्रेणिचक्रकाद्युपपाततः।।(मा.वि.वा.१-६८८ तः६९२)

तो शक्तिपात करने में शिव सर्वथा स्वतन्त्र है। अपनी इच्छा के अनुसार अनन्त रूपों में अनन्त प्रकारों से अनन्त वैचित्र्य का प्रदर्शन करते हुए परमेश्वर ही सदैवे इस बन्ध-मोक्ष की क्रीड़ा का अभिनय अनन्त रूपों में करते रहते हैं। यही उनकी परिपूर्ण परमेश्वरता है, जो उनका अपना नैसर्गिक स्वभाव है। अन्य शास्त्रों के अभ्यास से प्राप्त होने वाली मुक्ति शैव दर्शन की दृष्टि में पारमार्थिक मुक्ति नहीं होती। वह तो व्यावहारिक और स्वल्प काल तक ठहरने वाली मुक्ति होती है। यदि कहीं चिरस्थायिनी भी हो, फिर भी वह किसी-किसी ही मल से मुक्ति होती है, सर्वतः मुक्ति नहीं होती। पारमार्थिक और परिपूर्ण मुक्ति तो एकमात्र सैद्ध दर्शन के अद्वैत सिद्धान्त के यथार्थ ज्ञान से तथा सैद्ध-योग की सफल उपासना से हुआ करती है। जो साधक अन्य शास्त्रों में ही रुचि रखते हैं, वे माया के प्रभाव से अमोक्ष को ही मोक्ष समझते हुए मध्यभूमि में ही कुछ समय के लिए टिके रहते हैं। वहां से वे या तो पुनः संसरणशील मर्त्यसंसार को लौट आते हैं, या किसी मुक्तशिव के अनुग्रह से उस मध्य भूमिका से ही ऊपरसंक्रमण करते हैं। इन दोनों प्रकार की गतियों के प्रति प्रेरणा भी शिव के शक्तिपात पर ही निर्भर रहती है।

शक्तिपात का मुख्य लक्षण भगवद् भक्ति का उन्मेष है। वह प्रतिभावान् पुरुष में अवश्य ही रहता है। इसीलिये ऐसे पुरुष की

दीक्षा तथा अभिषेक व्यापार स्वयं अपनी संविद्देवियों की सहायता से ही संपन्न हो जाते हैं। प्रातिभ ज्ञान का उदय हो जाने से साधक की अपनी इन्द्रिय वृत्तियाँ अन्तर्मुख होकर प्रमाता, अर्थात् आत्मा के साथ तादात्म्य लाभ करती हैं और शक्तिमय बन जाती हैं। शास्त्रों में कहा गया है कि मंत्र, अर्थात् चित्त के बहिर्मुख होने पर जो वृत्तियाँ कही जाती हैं, वे ही उसके अन्तर्मुख होने पर शक्तियाँ कहलाती हैं। ये सब शक्तिभूत इन्द्रिय वृत्तियाँ पुरुष के चैतन्य को उत्तेजित करती हैं। इसी स्थिति को अन्तर्दीक्षा कहा जाता है। इसके प्रभाव से साधक स्वतः स्वातन्त्र्यलाभ कर लेता है। इसके लिये उसे गुरु या शास्त्र की भी अपेक्षा नहीं रहती। तंत्रशास्त्र का यह उद्घोष है कि गुरु कृपा से, शास्त्र के अध्ययन से अथवा स्वतः अपनी प्रतिभा से भी साधक निरावरण स्वात्मस्वरूप को पहचान सकता है। अन्तर्दीक्षा के माध्यम से यह कार्य संपन्न होता है।

शक्तिपात के मुख्य भेद

१.तीव्र-तीव्र शक्तिपात

परमेश्वर द्वारा किया जाने वाला अनुग्रहात्मक अंत:प्रेरणा का सर्वोत्कृष्ट प्रकार (देखिएशक्तिपात)। इस उत्कृष्ट शक्तिपात के माध्यम से जीव को सहजता में ही अपने शुद्ध, असीम एवं परिपूर्ण नैसर्गिक स्वभाव का ज्ञान हो जाता है और वह अपने

भौतिक शरीर को तत्काल छोड़ देता है और अपनी परिपूर्ण परमेश्वरता को प्राप्त कर लेता है। (तं.आ. 13-920; त. सा. तृ. 120)। इस अत्युत्कृष्ट शक्तिपात का पात्र बना हुआ साधक क्षणभर के लिए भी अपने जीवभाव के आभा समान संकोच को सहन न करता हुआ तत्क्षण सर्वथा मुक्त हो जाता है। (तन्त्रालोक 13-200)। कभी कभी कोई कोई साधक इस प्रकार के शक्तिपात का पात्र बनकर अपने शिवभाव को पूरी तरह पहचानकर कुछ समय के लिए जीवन्मुक्त दशा में भी ठहरा रहता है। कोई चिरकाल तक भी उस अवस्था में ठहरा रहता है। इस तरह से इस शक्तिपात के भी तीन प्रकार माने गए हैं। (तं.आ.13-131; तन्त्र सार पृ. 120)

२.तीव्र-मंद शक्तिपात

यह मंद शक्तिपात का सर्वोत्कृष्ट प्रकार है। यह परमेश्वर द्वारा किया जाने वाला अनुग्रहात्मक अंतःप्रेरणा (देखिए शक्तिपात) का वह प्रकार है, जिसके प्रभाव से प्राणी में अपनी शिवरूपता को प्राप्त करने की अपेक्षा ऐश्वर्यमय भोगों को भोगने की इच्छा अधिक प्रबल होती है। ऐसा प्राणी किसी उत्कृष्ट गुरु द्वारा दी गई दीक्षा के सामर्थ्य से ही इस देह का त्याग करने के पश्चात् अपने अभिमत भोगों को भोगने के लिए तदनुकूल लोक को उत्क्रमण कर जाता है। वहाँ इच्छित भोगों को भोग लेने के

पश्चात् अपनी शिवरूपता को क्रम से पूर्णतया पहचान लेता है। (तं.सा.पृ. 123, 124; तन्त्रालोक 13-245, 246; तन्त्रालोकविवेक8, पृ. 152)। तीव्र मंद शक्तिपात वाले साधक को भोगों की इच्छा बहुत अधिक नहीं होती है। अतः थोड़े समय में ही उस इच्छा को सफल बनाकर वह मोक्ष के प्रति अग्रसर हो जाता है। उसे इस लोक के गुरु के अनुग्रह से ही मुक्तिलाभ होता है। पुनः किसी अनय गुरु के अनुग्रह की आवश्यकता उसे नहीं पड़ती है।

३.तीव्र-मध्य शक्तिपात

यह मध्य शक्तिपात का उत्कृष्ट प्रकार है। इससे साधक को अपने शुद्ध आत्मस्वरूप के प्रति उत्पन्न हुए संशयों को सर्वथा शांत करने के लिए किसी उत्कृष्ट गुरु के पास जाने की उत्कंठा तो होती है परंतु दीक्षा प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी उसमें इतनी शीघ्रता से अपने शिवभाव का दृढ़ता से निश्चय नहीं हो पाता है। जब उसे बार बार के अभ्यास से अपने शिवभाव का दृढ़तया निश्चय हो भी जाता है तो फिर भी उसे शिवभाव की साक्षात् अनुभूति तब तक नहीं हो पाती जब तक प्रारब्ध कर्मवशात् उसका शरीर टिका रहता है। वह स्फुट अनुभूति उसे देह को त्याग देने पर ही प्राप्त होती है और तभी वह सर्वथा मुक्त हो जाता है। ऐसा साधक पुत्रक दीक्षा का पात्र बनता है। (तं.आ.वि;

8, पृ. 151; तन्त्र सार पृ. 123; तन्त्रालोक 13-240, 241)।